ARYAVART SHODH VIKAS PATRIKA
RNI TITLED NO. UPBIL04292
RNI REG. NO. UPBIL/2014/66218 **PP. No.- 109-112**

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

परिवार में महिलाओं की प्रस्थिति

डॉ0 अशोक कुमार

पी–एच0 डी0, समाजशास्त्र, ग्राम– निगरी टोला मनीपर, पोस्ट– डोभी, जिला– गयाजी (बिहार) भारत

Received-01.10.2025, Revised-08.10.2025, Accepted-14.10.2025 **E-mail : aaryvart2013@gmail.com**

सारांशः ***पारिवारिक आदर्शों, सामाजिक जीवन, राजनैतिक संगठनों एवं पुरुषों की आत्मिक शक्ति को दृढ़ एवं उत्कृष्ट बनाने में महिलाओं ने अपने विविध रूपों में त्याग एवं तपस्या के, जो उदाहरण समय–समय पर प्रस्तुत हैं, वे भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति के वैभव में सदैव स्पष्ट रहे हैं। इसीलिए किसी सामाजिक संरचना एवं सामाजिक जीवन के अध्ययन के समय उस समाज की स्त्रियों का एवं सामाजिक–जीवन में उनके महत्व को, विस्मृत कदापि नहीं किया जा सकता है।***

यद्यपि भारतीय समाज में स्त्रियों के योगदान को पूरी तौर पर स्वीकार किया या है तथापि पुरूषों की तुलना में उन्हें कम महत्व दिया गया है। सामाजिक, धार्मिक, राजनैतिक, आर्थिक, शैक्षिणिक एवं व्यावसायिक क्षेत्रों में इनकी पुरूषों के साथ सहभागिता के उल्लेखों की संख्या की अपेक्षा, इनके स्वतंत्र रूप से इन क्षेत्रों में कर्मशील रहने के उल्लेख की कमी दिखायी पड़ती हैं भारतीय साहित्य में यत्र–तत्र विदुषियाँ एवं अनेक क्षेत्रों में स्त्रियों की विशिष्टता के उदाहरण प्राप्त होते हैं, किन्तु आनुपातिक दृष्टि से वे नगण्य हैं।

कुंजीभूत शब्द– स्वतत्रंता, समानता, राष्ट्रीयता, संस्कृति, सभ्यता, राजनीति, गुलामी, क्रांति, स्वराज, अधिकार, वैदिक धर्म।

मानव–जीवन के लिए अत्यन्त महत्त्वपूर्ण आश्रम–व्यवस्था के संदर्भ में भी इनकी यही स्थिति थी। इनके लिए आश्रम–व्यवस्था का विधान अपेक्षाकृत कम था। समाज कि विभिन्न स्थितियों में भी उन्हें यथोचित स्थान प्राप्त न हो सका था। ऋग्वेद के उल्लेखों के अलावा बाद के उल्लेखों से ऐसा प्रतीत होता है कि उनका ब्रह्मचर्य जीवन प्रतिबंधित हो गया दिखता है। गृहस्थ जीवन के अतिरिक्त वानप्रस्थ एवं संन्यास भी उनके लिए विहित नहीं रह गया था, यद्यपि आश्रमों के कर्तव्य–निर्वाह में पुरूषों के साथ उनका समुचित सहयोग था तथापि वे अनेकानेक अधिकारों से वंचित कर दी गयी थी। इनका ब्रह्मचर्य जीवन पुरूषों के समान न था। वास्तव में वे पूर्णरूपेण घर में रहकर गृहस्थ–जीवन व्यतीत करती थी तथा कहीं न कहीं से समाज भी उनसे इन्हीं प्रकार के आचरणों की अपेक्षा को उचित स्वीकारता था। यद्यपि वह प्रत्यक्ष रूप से इसका विरोध भले न करता रहा हो। आठ से सोलह वर्ष की अवस्था के मध्य किसी समय उनका विवाह करके किसी घर का उत्तरदायी सदस्य बना दिया जाता था, किन्तु वेदों में इस प्रकार की व्यवस्था न थी।[2] कालान्तर में इनका ब्रह्मचर्य जीवन प्रायः समाप्त हो गया, क्योंकि बाल्यवस्था में उनका विवाह कर दिये जाने के कारण ब्रह्मचर्य जीवन का प्रश्न ही नहीं पैदा होता है। ऐसे में जिस प्रकार ब्रह्मचारी गुरू की सेवा करता था, उसी प्रकार स्त्री (पत्नी) को पति की सेवा का निर्देश दिया गया था[3], किन्तु गृहस्थाश्रम में ऐसा कदापि न था। वास्तव में यह जीवन संयोग एवं सहयोग से स्थापित ही होता था। यहाँ स्त्री की समान सहभागिता थी। स्त्री के सहयोग के बिना गृहस्थ का जीवन निरूद्धेश्य एवं प्रयोजनहीन था। स्त्री के लिए विवाह अत्यावश्यक था, तदुपरांत उसे बाद के दोनों आश्रमों में प्रवेश पाने का अधिकार प्रायः नहीं था। कुछ विशेष उऋरणों में पति की इच्छानुसार वह वानप्रस्थ में उसके साथ रह सकती थी। स्त्रियों के लिए विवाह की अनिवार्यता का आंकलन महाभारत के एक प्रसंग से बड़ी आसानी से किया जा सकता है, जिसमें कहा गया है कि 'ऋषि कुणिगर्ग' की पुत्री शुभ ने मोक्ष प्राप्ति के लिए अपना संपूर्ण जीवन तपस्या में बिता दिया, किन्तु नारद द्वारा यह बताने पर कि विवाह के मोक्ष प्राप्ति संभव नहीं है, उसने अपनी तपस्या का आधा भाग एक ऋषि को देकर उसके साथ विवाह कर गृहस्थाश्रम में प्रवेश किया।[4] मनु के अनुसार स्त्रियों की सृष्टि प्रजनन के लिए हुयी है।[5] ऐसी स्थिति में उनका गृहस्थाश्रम में रहना अपेक्षित था। समस्त गार्हस्थ्य कर्मों एवं यज्ञों का अनुष्ठान पति के साथ करती थी। उदाहरणार्थ– राम के राज्यभिषेक के समय कौशल्या व्रत–परायण होकर प्रातः काल से ही यज्ञ करती रही।[6] सुग्रीव से होने वाले युद्ध के लिए प्रस्थान करने पर बालि की पत्नी तारा ने भी यज्ञानुष्ठान किया था।[7] इस प्रकार गृस्थाश्रम में रहकर वे अपने सामाजिक, नैतिक एवं धार्मिक कार्यों का संपादन करती थीं। स्त्रियाँ यज्ञादि के साथ–साथ अतिथि सत्कार का भी व्रत करती थीं, चाहे वह ब्राह्मण।[8] गृहस्थजीवन को सुखी एवं समृद्ध बनाना उनका परम कर्तव्य था। एतदर्थ उन्हें सदा–सर्वदा प्रयत्नशील रहने की आवश्यकता थी। इन्हें गृह सम्राज्ञी की संज्ञा प्रदान थी।[9] आदर्श पत्नी पति की सहचरी एवं सहधर्मिणी होती थी। स्त्रियाँ गार्हस्थ्योचित समस्त कार्यों का संपादन कुशलतापूर्वक करती थीं।[10] इस प्रकार यह स्पष्ट हो जाता है कि अन्य आश्रमों का परिपालन एवं उनमें स्त्री की अनिवार्यता भले ही अल्प रही हो, किन्तु गृहस्थाश्रम का परिपालन एवं उसमें स्त्री की अनिवार्यता आवश्यकता में किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं था। वास्तव में, जिस आश्रम की नींव ही स्त्री के माध्यम से डाली जाती हो। उसमें स्वयमेव ऐसा प्रश्नों के लिए कोई स्थान शेष नहीं रह जाता है। अतः भारतीय समाज नियंताओं को गृहस्थाश्रम के संचालनार्थ स्त्री को एक प्रतिष्ठित एवं अनिवार्य स्थान प्रदान करने की मजबूरी भी थी, जिससे वे बच नहीं सकते थे। फलतः गृहस्थाश्रम में स्त्री की केन्द्रीय भूमिका की संस्तुति उन्होंने की जहाँ वह परिवार के समस्त सदस्यों के साथ स्नेहिल एवं आदरयुक्त व्यवहार करती थी तथा उन्हें अपना सहयोग प्रदान करती थी।

यद्यपि गृहस्थाश्रम से स्त्री का संबंध सबसे पहले तभी स्थापित हो जाता है, जब वह किसी गृहस्थ की पुत्री (कन्या) के रूप में जन्म लेती है, किन्तु विवेच्य संदर्भ से स्त्री के इस स्वरूप (कन्या) का विशेष संबंध नहीं है। वास्तव में, प्रस्तुत संदर्भ से स्त्री का सम्बन्ध वहाँ से प्रारम्भ होता है, जब उसे किसी पुरूष के साथ वैवाहिक बंधन में बाँध कर, किसी घर का उत्तरदायी सदस्य बना दिया जाता है। फलतः स्त्री का स्वयं का भी अपना गृहस्थ–जीवन प्रारम्भ हो जाता है। इस जीवन में स्त्री की भूमिका स्पष्ट रूप से तीन रूपों– गृहणी, माता एवं पत्नी (सहचरी) में दिखाई देती है, जिनके अधिकार, कर्तव्य एवं उत्तरदायित्वों का विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है।

गृहणी– परिवार के सदस्य एक साथ रहकर जो कुछ करते हैं या उनके लिए जो कुछ किया जाता है, वह सब परिवार के आन्तरिक जीवन में समाविष्ट हो जाता है। स्त्री–पुरूष के एक साथ रहने से ही पारिवारिक जीवन का प्रारम्भ होता है। ज्यों–ज्यों संतान वृद्धि या अन्य प्रकार से परिवार के सदस्यों की संख्या बढ़ने लगती है, त्यों–त्यों स्त्री का आंतरिक जीवन भी विकसित होने लगता है, किन्तु इस विकास के पूर्व जब वह किसी व्यक्ति द्वारा अपनी जीवन संगिनी बनाकर एक संयुक्त परिवार में लायी जाती है, वहाँ उसे संबंधित परिवार में अनेक सदस्यों, जो उसके – सास, श्वसुर, देवर, ननद, जेठानी एवं भतीजे, भतीजियाँ आदि लगते हैं, के

अनुरूपी लेखक/ संयुक्त लेखक

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

बीच सामजंस्य स्थापित करना पड़ता था। यह उसका प्रथम एवं नैतिक दायित्व था। सच्चे अर्थों में यही उसकी कुशलता की परख की असली घड़ी थी। वह इन सदस्यों के लिए न माता थी, न पत्नी, बल्कि एक कुशल गृह संचालिका अर्थात् गृहिणी थी। उसे अपने इस रूप में परिवार के समस्त सदस्यों की सुख–सुविधा का अत्यन्त सजगता से ध्यान रखना पड़ता था।

गृहिणी के रूप में उसका सामाजिक महत्त्व एवं सम्मान था। ऋग्वेद के प्राचीन मंडलों की रचना के समय से ही उसे स्वयं ही गृह की संज्ञा प्रदान की गयी है।[11] महाभारत[12] एवं इतिहास–पुराण[13] में गृहणी के बिना घर का कोई अस्तित्व नहीं स्वीकारा गया है। वास्तव में गृहणी को ही गृह कहा गया है। दूसरे शब्दों में बिना स्त्रियों के घर की वास्तविक परिभाषा ही अधूरी है। मनुस्मृति[14] एवं अभिज्ञान शाकुन्तलम्[15] में भी 'गृहणी' की मर्यादा एवं उसके उत्तरदायित्वों का सुंदर विवेचन प्रस्तुत किया गया है। दशकुमारचरित से ज्ञात होता है कि सारा पारिवारिक भार श्रेष्ठि–पुत्र शक्ति कुमार ने अपनी गृहिणी को प्रदान कर दिया था।[16]

अतः हिन्दू संयुक्त परिवार में गृहिणी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। यह परिवार के सदस्यों के बीच संबंध स्थापन, गृह के निर्माण, संचालन एवं परिपालन में विशेष महत्त्वपूर्ण योगदान करती रही। प्रियंवदा एवं पतिव्रता के रूप में वह परिवार के आकर्षण का केन्द्र रही है। वह अपने समस्त धार्मिक एवं सामाजिक कार्यों के द्वारा संपूर्ण परिवार का विकास करती रही है। उसे परिवार के समस्त छोटे–बड़े सदस्यों की चिन्ता करनी पड़ती थी। अपने घर को साफ–सुथरा रखना, भोजन की व्यवस्था करना और अतिथि सत्कार के उत्तदायित्व को पूरा करना आदि उसके अन्य महत्त्वपूर्ण कार्य थे। गृहिणी को अपनी संतान का पालन–पोषण करके उसे योग्य नागरिक बनाने का गुरुतर दायित्व भी संभालना था।

माता– प्रत्येक गृहस्थाश्रमी का अनिवार्य कर्तव्य संतोनोपत्ति कर वंशवृद्धि करना था। इसमें उसकी पत्नी का सहयोग वांछनीय था। पत्नी संतोनोत्पति के बाद मातृत्व का पद ग्रहण करती थी और तब तक वह संबंधित परिवार के सदस्यों के साथ घुल मिलकर भी हो जाती थी। स्त्री का यह स्वरूप प्राचीन भारतीय समाज से लेकर अधुनातन समाज एवं परिवार तक में अत्यन्त गरिमामय, मर्यादित एवं महत्वपूर्ण रहा है। 'माता' शब्द पारिवारिक जीवन के लिए अमत का भंडार हैं वह परिवार के समस्त त्याग, तप, उत्सर्ग एवं प्रेम की अपार निधि हैं जिसे माता के अगाध स्नेह–सागर के जल में गोता लगाने का सुअवसर न मिला हो, उससे अधिक अभागा दुसरा न होगा। माता एवं संतान का जो परस्पर प्रेम रहता है, उसी से पारिवारिक जीवन अधिक सुखी बनता है। माता समाज के उच्चादर्शों की साक्षात् मूर्ति हैं। वह अपने लिए जीवित नहीं रहती अपितु अपने परिवार एवं अपनी संतान के परिवार के कल्याणार्थ जीवन संघर्ष करती है। वह अपनी संतान के पालन–पोषण के लिए अपने स्तर से कोई कमी नहीं उठा रखती थी। संतान का योग्य बनाने का दायित्व भी उसे को संभालना था, ऐसी स्थिति में मातृत्व का पद पारिवारिक एवं गृहस्थ–जीवन का केन्द्र बिन्दु बन गया।

वेदों में माता का अत्यन्त सम्माननीय पद प्रदान किया गया है तथा अनेक स्थलों पर इसका गुणगान किया गया है। माता को सबसे घनिष्ठ एवं प्रिय संबंधी बताया गया है।[17] यही कारण है कि भक्तजन परमात्मा को माँ कहकर अधिक संतोष प्राप्त करते हैं।[18] यहाँ तक कि माता की प्रतिष्ठा एवं गरिमा ऐसी थी कि व्यवहार में पिता शब्द से पहले उसका प्रयोग किया जाता था।[19] पुत्र को माता के अनुकूल मन वाला होने की आज्ञा दी गयी है।[20] वीर पुत्र को जन्म देने वाली होने के कारण माता को अत्यधिक प्रतिष्ठा की गयी।[21] इतना ही नहीं समावर्तन के समय आचार्य शिष्य को माता को देवता के समान पूजा करने का उपदेश देता है।[22]

वैदिक साहित्य से ज्ञात होता है कि माताएँ विवहादि के अवसरों पर अपनी कन्याओं को सम्पूर्ण मनोयोग से सजाया करती थीं।[23] संभवतः इस संदर्भ में यह कहना अनुचित न होगा कि माताएँ अपनी अधूरी इच्छाओं को पुत्री के विवाह के अवसर पर संपूर्ण कर लेना चाहती हैं। वह उसे इस अवसर पर अपने गृहस्थ–जीवन के अनुभवों एवं एतद्विषयक उत्तरदायित्वों के प्रति जागरूक करती हुयी, उसका मार्गदर्शन करती है, ताकि किसी नवीन गृह की स्वामिनी बनकर उसकी पुत्री अपने उत्तरदायित्वों एवं मर्यादाओं के निर्वाह में कहीं कोई त्रुटि न कर दे। अपनी कन्या का विवाह सम्बन्ध तय करने में माता को पर्याप्त अधिकार था, क्योंकि श्यावाश्य का विवाह दार्भ की कन्या के साथ तभी संपन्न हुआ जबकि कन्या की माता ने स्वीकृति दे दी।[24] किन्तु यहाँ यह तथ्य उल्लेखनीय है कि विधवा माता के सम्मान में कुछ कमी अवश्य थी।[25] इस संदर्भ में इस प्रकार की धारणा के पीछे कतिपय कारणों की संभावना व्यक्त की जा सकती है। प्रथम तो यह कि वास्तविक रूप से समस्त परिवार में पत्नी का हित रक्षक एवं उसकी व्यक्तिगत आवश्यकताओं की पूर्ति के प्रति सजगता एवं तत्परता से ध्यान देने का दायित्व पति का है और ज बवह नहीं है तो ऐसी आवश्यकताओं की पूर्ति का बाधित होना स्वाभाविक है और स्त्री अपने को इन संदर्भों में हीन समझती है। द्वितीय ह कि माता एवं संतान के प्रति संबंधों में जो पीढ़ी का अन्तराल है, वह भी इसका एक प्रमुख कारण था, जो पति के जीवित रहने पर स्पष्ट नहीं हो पाता और अंतिम यह कि पति विहीन होने पर स्त्री का विविध धार्मिक, सामाजिक महत्त्व के कार्यों के सम्मिलित न हो पाना इसके लिए प्रमुख रूप से जिम्मेदार प्रतीत होते हैं, किन्तु इन सब तथ्यों के होते हुए भी ऐसा प्रतीत नहीं होता कि माता का अपनी संतान के प्रति या संतान का माता के प्रति स्नेह एवं आदर में कोई दिखाई पड़ती हो। सामाजिक परिवेश में भले ही ऐसी माताओं के सम्मान एवं आदर में कोई कमी दिखाई पड़ती हो, किन्तु व्यक्तिगत रूप से ऐसा कुछ भी प्रतीत नहीं होता है।

भारतीय समाज में मातृ–प्रतिष्ठा इतनी अधिक थी कि मनुष्य के तीन अति गुरूओं में उकसा भी एक नाम आता है। उसकी नित्य सेवा करनी चाहिए, जैसा वह कहे वैसा करना चाहिए। उसकी आज्ञा के बिना कुछ नहीं करना चाहिए। उसकी आज्ञा के बिना कुछ नहीं करना चाहिए। यह लोक है, देवता है, वेद है एवं अग्नि है। अग्नि के रूप में इसे दक्षिणाग्नि की संज्ञा प्रदान की गयी है।[26] मनुष्य, माता की भक्ति से इस भू–लोक को सुखपूर्वक प्राप्त करता है। गुरू–माता, पिता में यद्यपि तीनों आदरणीय एवं सम्माननीय है तथापि इनमें माता सर्वश्रेष्ठ है।[27] यही कारण है कि मनु ने एक ब्रह्मचारी द्विज को माता का शव बाहर निकालने के बाद भी ब्रह्मचर्य व्रत से च्युत नहीं माना, जबकि अन्य व्यक्तियों के संबंध में उसको प्रायश्चित करना पड़ता था।[28]

माता का सम्मान, आज्ञा पालन एवं सदा रक्षा करना, पुत्र का परम कर्तव्य माना गया है। यहाँ तक कि जहाँ कि पूज्यजन खड़े हों वहाँ भी पुत्र को सर्वप्रथम माता का ही सत्कार करना चाहिए। 'उपनयन' संस्कार के अवसर पर पुत्र के लिए सर्वप्रथम माता से भिक्षा लेना उचित समझा गया है।[29] कहा गया है कि 'जननी जन्मभूमिश्च स्वर्गादपि गरीयसी' अर्थात् माता और जन्मभूमि स्वर्ग से भी बढ़कर हैं इस प्रकार गृहस्थ आश्रम में माँ की महिमा अपार है।

सहचरी (पत्नी)– गृहस्थाश्रम में प्रवेश ही स्त्री, वास्तव में (पत्नी) सहचारी के रूप में करती है। इसका यह स्वरूप बड़ा महत्वपूर्ण होता है। पूर्व विवेचित दो रूपों (गृहणी एवं मात) में यदि देखा जाय तो गृहणी का इससे पूरा–पूरा समावेश दिखाई देता है। संपूर्ण परिवार की जिम्मेदारियों से हटकर व्यक्तिगत रूप से पति के लिए किए कार्यों, उत्तरदायित्वों एवं उससे संबंधित अधिकारों के परिप्रेक्ष्य

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e-I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

में स्त्री का यह स्वरूप स्पष्टता को प्राप्त करता है। स्त्री का यह रूप अत्यन्त जटिलताओं का संगम है। जहाँ कदम–कदम पर सचेष्ट एवं संभल–संभल कर आगे बढ़ना होता है। इसी में इस पद की सार्थकता भी है इससे परिवार का विकास होता था।

स्त्री को वास्तव में नारी तब कहा गया जबकि उसका नर–संबंध स्थापित होता है। विवाह के अवसर पर 'लाजा–होम' के समय वधु स्वयं अपने लिए सर्वप्रथम 'नारी' शब्द का प्रयोग करती है।[30] उस समय से उसका नर–संबंध प्रारम्भ हो जाता है। अ बवह 'जाया' एवं जानि भी कहा जाती थी। ऋग्वेद में वह 'घर' मानी गयी हैं वस्तुतः पत्नी ही घर की आत्मा एवं प्राण थी, यही नहीं वह गृह की साम्राज्ञी भी थी।[31] परिवार में उसकी महिमा थी। पति के साथ मिलकर वह सामाजिक एवं धार्मिक कार्यों का संपादन करती थी। यज्ञ में वह सदैव पति के साथ रहती थी तथा कभी–कभी स्वयं भी यज्ञ का संपादन करती थी।[32] बिना पत्नी के कोई भी व्यक्ति या सम्पन्न नहीं कर सकता था।[33] अश्वमेध यज्ञ करते समय राम को सीता के वनवास के कारण उनकी सोने की प्रतिमा बनवाकर यज्ञ करना पड़ा था।[34] पत्नी–पुरुष का आधा भाग मानी गयी है तथा उसे धर्म एवं काम का मूल स्वीकार किया या है। वह पुरूष की सर्वोत्तम सखा एवं संसार सागर तरण का साधन है। पत्नी वाले गृहस्थ के लिए ही धार्मिक क्रियायें एवं यज्ञादि करने का विधि–विधान था। ऐसा ही गृहस्थ श्री सम्पन्न होकर आमोद करता था जिसकी पत्नी हो। प्रियवादिनी पत्नियाँ एकान्त में पति की मित्र थी एवं निर्जन वन में पथिक का विश्राम स्थल भी। चूँकि पुरूष की गतिभार्या से बनती हैं अतः पत्नी युक्त पुरूष का विश्वास भी वही थी।[35] वह गृह की शोभा एवं कान्ति थी। समाजशास्त्रकारों ने कहा है कि अपत्य (संतानोत्पति करना), धर्म, सेवा, उत्तमसुख (रति) पितरों का और अपना स्वर्ग भार्या के ही अधीन था। ऐसी भार्या स्वभावतः पूज्य थी।[36] सच्चे अर्थों में भार्या वही है, जो घर की रक्षा करे, पति को अपने प्राण के समान समझे और संतान प्रजनित करें।[37] पत्नी के विविध कर्तव्यों का विशद् प्रस्तुत करते हुए वेदव्यास[38] ने लिखा है कि पत्नी को पूर्वाह्न का समस्त कार्य करके अपने गुरू वर्ग का अभिवादन करना चाहिए। उसे माता तथा पिता या भाई और मामा अथवा बाँधवों द्वारा प्रदत्त वस्त्रालंकार ही धारण करना चाहिए। छाया की भाँति पति की अनुगत, सखा की भाँति पति के हित कर्मों में संलग्न तथा पति द्वारा आदेशित कर्मों में दासी के समान निरत भार्या को सर्वदा पति की अनुगामिनी रहना चाहिए। तत्पश्चात् आहार के साधन निर्मित करके पति को निवेदित करे और वैश्य देव को आवाहित किया हुआ अन्न स्वयं ग्रहण करे। पति द्वारा अनुज्ञप्त होकर और अवशिष्ट भोजन ग्रहण करने के अनन्तर आय–व्यय का चिन्तन करती हुयी वह, शेष दिन व्यतीत करे। अन्न को पकाकर पतिव्रत का परिपालन करने वाली साध्वी पत्नी को अपने स्वामी को भली–भांति भोजन कराना चाहिए। वह स्वयं अत्यन्त तृप्ति से भोजन न करे, दिनान्त में सुंदर शैय्या बिछाकर पति की परिचर्या करे तथा पति के सो जाने के बाद स्त्री उसके समीप ही पति के स्मरण में अपना मन लगाते हुए शयन करे। वह कभी भी न उच्च स्वर में, न कठोर तथा न अधिक बोले। जो पति को प्रिय लगे वही बोले। वह प्रलाप एवं विवाद न करे, अधिक खर्च न करे। पिशुनता, हिंसा, विद्वेष, धूर्तता, नास्तिकता, अस्तेय, दम्भ आदि का उसे त्याग करना चाहिए।

पति सेवा एवं पतिव्रत्य धर्म का पत्नी के लिए अपार महत्व था। वह अपने कर्तव्यों से घर में सुख समृद्धि का वातावरण निर्मित करती थी। इस प्रकार परिवार में पत्नी की महत्त्वपूर्ण प्रेरक भूमिका रही है। वह शान्ति एवं समृद्धि की वृद्धि करती थी। अपनी प्रियंवदा और पतिव्रता के कारण वह आकर्षण का स्त्रोत रही है। पतिव्रता एवं पति सेवा ही उसके जीवन का आदर्श रहा है। वैदिक साहित्य के कुछ उल्लेख ऐसे हैं, जो स्त्री के साम्पत्तिक अधिकार पर आक्षेप करते दिखाई देते हैं।[39] किन्तु उन्हें अपवाद स्वरूप ही स्वीकार करना श्रेयस्कर होगा। पुत्री का सम्पत्ति में हिस्सा होता था। तथा वह परिवार में दत्तक पुत्र से श्रेष्ठ समझी जाती थी।[40] अपने भाई के न रहने पर वह अपने पिता की सम्पत्ति की उत्तराधिकारी मानी जाती थी।[41] वर्तमान समय में स्त्रियों के विकास एवं उत्थान को दृष्टि में रखकर उसे पुत्र के समान साम्पत्तिक उत्तराधिकार केन्द्र सरकार ने प्रदान किया हैं यह एक सराहनीय एवं महत्त्वपूर्ण ठोस कदम है। इससे राष्ट्र का उत्थान एवं विकास होगा।

सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. प्रमुख विदुषियों में लोपा, मुद्रा, घोषा, अपाला, विश्ववारा एवं सिकता के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।
2. अथर्व., 11.5.18
3. मुन., 2.67, वैवाहिक विधिः स्त्रीणां संस्कारों वैदिक स्मृतः, पति सेवा गुरौवासौ गृहार्थोग्निपरिक्रिया।
4. महा. शल्य., 52. 3, 52. 19
5. मनु., 9.96, प्रजनार्थ स्त्रियः सृष्टाः सन्तानार्थ च मानवाः। तस्माताधरणो धर्मः श्रुतौ पत्न्या सहोदितः।।
6. रामा., 2.20, 15, सा क्षौमवसना दृष्टानित्यं व्रत परायणा। अग्निं जुहौतिस्य तदा मंत्रविसकृतमंगला।
7. रामा., 4.16.12, ततः स्वस्तययनं कृत्वा मंत्र विदिजयैषिणी।
8. भुवालकर, वनमाला, महाभारत में स्त्रियाँ, पृ. 101.
9. अथर्ववेद, 14.1.43.
10. वि. पु., 4.6.15, यदि शक्नोषि गच्छ त्वमति चंचलयेष्टिता। इत्युक्त्वाथ निजं कर्म स चकार कुटुम्बिनी।।
11. ऋग्वेद, 3.53.4.
12. महा. शां., 144.6.
13. ब्र. वै. पु., 2.59.14, गृहिणी च गृहं प्रोक्तं न गृहमुच्यते।
14. मनु., 3.56–65.
15. कालिदास, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, 4.18.
16. दशकुमारचरित, षष्ठ उच्छवास, सर्वमैव कुटुम्बम् तदात्तं कृत्वा.
17. ऋग्वेद, 1.21.1, 7.101.3.
18. वही, 9.8.11.
19. वही, 4.6.7
20. अथर्व., 3.20.2.
21. यजुर्वेद, 4.23, शत. ब्रा., 3.3.1.12.
22. तै. उप., 1.11.

I S S N NO. - 2347 – 2944 (Print)
e–I S S N NO.- 2582 – 2454 (Online)
Vol.-19, No.- IV, Issues-38, YEAR- Oct.-Dec.2025

23. ऋग्वेद, 10.18.11.
24. वृहद्देवता 5.41, देखें, लता सिंह, भारतीय संस्कृति में नारी पृ. 15, पाद टिप्पणी 1.
25. अथर्व., 14.1.18.
26. मनु., 2.23.1, माताऽग्निर्दक्षिणः स्मृत।
27. वही, 2.23.3, याज्ञ., 1.35.
28. वही, 5.91, आयार्य स्वमुपाध्यायं पितरं मातरं गुरूम्। निर्हृत्य तु व्रती प्रेतान्न व्रतेन वियुजयते।।
29. मनु., 2.55.
30. अथर्व., 1.4.2.63.
31. ऋग्वेद, 5.53.4, 10.85.46.
32. वही, 1.72.5, 5.3.2, तै. ब्रा., 3.7.5, अथर्व., 11.1.17–27, शत. ब्रा., 1.9.2.1.
33. ऋग्वेद, 1.9.21–25, तै. ब्रा., 3.3.3.1 अयज्ञयो व एवः। योऽपत्नीकः।
34. रामा., 8.91.2.5, कान्चनी मम पत्नी च दीक्षायां ज्ञांश्चकर्मणि। अग्रतो भरतः कृत्वा गच्छत्वग्रे महायशाः।
35. महा., 1.74.41–53.
36. मनु., 9.28. याज्ञ., 1.71
37. शंखस्मृ., 1.15.
38. व्यासस्मृ., 2.25–35, शंखस्मृ., 1.15.
39. तै. सं., 6.5.8.2, तस्मात्स्त्रयो निरिन्द्रया अदायादीः। शत. ब्रा., 4.4.2.13.
40. ऋग्वेद, 7.4.8, व.ध.सू., 17.15
41. वही,1.124.7,

*****